# स्वर गंगा

मोहनलाल श्रीवास्तव

# एक र गंगा

मोहनलाल श्रीवास्तव

अव्यय प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक : अव्यय प्रकाशन, दिल्ली
प्राप्ति स्थान : भारती साहित्य सदन, ३०/६० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१
मूल्य : तीन रुपये
कलापक्ष : पाल बन्धु
संस्करण : प्रथम (दिसम्बर १९६७)
मुद्रक : दि प्रिंट्समैन

# दो शब्द

'अभी साधना रही अधूरी' पंक्ति कई बार कानों में पड़ी और कई बार इसे पढ़ने का अवसर मिला है। मोहनलाल श्रीवास्तव की इस कविता से उनकी साहित्यिक यात्रा की आकांक्षा का आभास मिल जाता है। श्रीवास्तवजी की कविताओं को कई बार सुनने का अवसर मिला है। भारतीय साहित्यकार संघ के संस्थापक के नाते तो उनसे बहुत पुराना परिचय है। उनके सुलझे हुए विचार, भावों की शालीनता, शब्दों की व्यापक क्षमता, रसवंती पंक्तियों का संयोजन, छंद विधान, गहरी अन्तरानुभूति और सांस्कृतिक वरेण्यता आदि ऐसी बातें हैं जो उनके समुज्ज्वल भविष्य का संकेत देती हैं।

यह संकलन हिन्दी साहित्य में अपना एक स्थान अवश्य ही बनाएगा, ऐसी आशा है। हिन्दी साहित्य प्रेमियों को श्रीवास्तव जी से अनेक आशाएँ हैं। मेरा उनकी साहित्य-साधना के प्रति विशेष लगाव है। मुझे वे बहुत प्रिय हैं। एक प्रकार से वे मेरे बच्चे हैं। मैं उनकी मंगलमयी प्रतिभा का आदर करता हूँ।

यह और भी प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने अपना प्रथम संकलन हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान के अनन्य उपासक श्री गुरुदत्त को समर्पित किया है। यह पवित्र कार्य अति उत्तम है और इसके लिए मैं श्रीवास्तव जी को साधुवाद देता हूँ।

ईश्वर श्रीवास्तव जी को निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर करे।

—रामदत्त भारद्वाज
एम० ए० (त्रिक्); एलएल० बी०,
पीएच० डी०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

# शुभ कामना

प्रस्तुत काव्य-संकलन* प्रौढ़ हृदय की संचित वेदनाओं का अभिव्यक्ति कोष है। पीड़ा ने घनीभूत होकर सौम्यता के साथ स्वयं को कुछ गीतों और छन्दों में ढाल दिया है। सौन्दर्य की मार्मिक अनुभूति ने प्रेम को जन्म दिया है, प्रेम ने संवेदना को जगाया है और वह संवेदना विश्व-पीड़ा बनकर गीतों में उमड़ उठी है। अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की सहजता ने इन स्वरात्मक रचनाओं को सरल शिशु की विमल आकृति जैसी मोहिनी प्रदान कर दी है। फूल में से जैसे सहज ही गन्ध फूट उठती है, उसी प्रकार वेदना व्यथित हृदय से अनायास ही स्वर-निर्झर झर उठा है। यह वेदना व्यक्ति के दायरे से समष्टि में फैलती गई है। अतः कवि के व्यक्तित्व को उज्ज्वल बनाने के साथ ही वह लोक सेवा में निमग्न भी हो गई है। 'स्व' और 'पर' के सामंजस्य ने अथवा स्व० प्रसाद जी की शास्त्रीय शब्दावली में "अहं और इदं के परामर्श" ने इन रचनाओं की परिणति अनेक स्थलों पर रहस्यात्मक शिखरों पर की है। इनमें एक ओर छायावादी व्यक्ति-वेदना और शैली का लाक्षणिक सौन्दर्य है तथा दूसरी ओर मानवतावादी समष्टि चिन्तन एवं निष्कपट आत्म समर्पण भी है।

इस प्रस्तावना के स्पष्टीकरण के लिए कुछ उद्धरण आवश्यक हैं। सौन्दर्य और प्रेम के प्रति कवि का दृष्टिकोण आदर्शात्मक है, अतः उनसे प्रेरित कविता उसे शुभ संकल्पों की ओर प्रेरित करती हैं :—

रूप शशि की चाँदनी से धुल गया मेरा कलुष मन।
नेह के शीतल कणों से बन गया यह अजर जीवन॥

* सन् १९४५ से १९५० की मध्य की रचनाएं।

**गीत में संकल्प का प्रिय वास मुझको मिल गया था।**
**रूप का मृदु भार पा कर हृदय-पंकज खिल गया था।।**

—(प्रेरणा-गति)

अपनी पीड़ा की छटपटाहट को सफलतापूर्वक चित्रित करता हुआ कवि सहानुभूति प्राप्त कर लेने में कृतकार्य हुआ है :—

**कैसे उड़ जाऊँ मैं ऊपर, पंख नहीं हैं पाँव रुँधे हैं।**
**अन्तर की अनुभूति स्वरों में उतर न पाती गीत बँधे हैं।।**

गहरी वेदनाएँ कला के दामन में नहीं बंध पातीं, इस सत्य की अनुभूति ने इस कवि की श्रेणी स्वतः निर्धारित कर दी है।

'मेरे मन सावन बन जाओ' जैसी रचनाओं में कवि की विश्व-व्यथा सात्विक रूप में प्रकट हुई है, और वह अपनी व्यथा को विश्व की व्यथा का हरण करने के लिए ही गीतों के रूप में प्रस्तुत करता है :—

**गीत गाये थे किसी ने, मौन सागर,**
**नहीं लहरा, लहर बनना चाहता हूँ।**
**मनुज-हित जो अमर रस को खींच लाये,**
**वह अपरिमित गीत रचना चाहता हूं।।**
**... ... ...**
**तृषित अधरों पर सरस मुस्कान लहरे**
**इस लिए कुछ गीत रचना चाहता हूँ।**

इन शब्दों में कवि की रचना का उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट और अत्यन्त प्रभावशाली भी है।

इस कवि की रहस्यानुभूति कहीं जटिल नहीं है, सर्वत्र सरल और स्वाभाविक है। तारों की झिलमिल में 'अपनी वेदनाओं' की झिलमिल, हममें से न जाने कितने, और कितने अवसरों पर देखा करते हैं। प्रकृति के साथ कवि का यह तादात्म्य कितना मनोहर प्रतीत होता है :—

ये पंक्तियाँ अनायास ही कवि प्रसाद के 'आँसू' का [स्मरण करा देती हैं :—

"बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फ़ैला है जैसे उस नील निलय में।।"

शून्य गगन में झिलमिल हिलमिल करते भाव हमारे।
सो-सो कर जगते जाते हैं बन कर मृदुल सितारे।।

और फिर प्रकृति के पार के किसी परोक्ष का आभास अपने में प्राप्त करके कवि का यह आत्मसन्तोष पवित्र मन्त्र के रूप में व्यक्त हो उठा है :

एक हूँ, बस एक का विश्वास हूँ मैं।
दूर से अति दूर होकर पास हूँ मैं।।

—(सहित-रहित)

ये सभी रचनाएँ अपने आकार-प्रकार में गीत ही हैं—लघु, गेय और आत्मनिवेदन से पूर्ण। इनमें न छन्द-विधान का प्रयास है और न अभिव्यक्ति-कौशल की चेष्टा। फिर भी छन्द की सफाई और अभिव्यक्ति की सचाई इस बात को सूचित करती है कि कविता के साथ इस रचयिता के व्यक्तित्व का सहज नाता है और काव्य का माध्यम उसके आत्म-प्रकाशन का सफल माध्यम है।

ये सरल गीतात्मक साखियाँ हिन्दी कविता के इतिहास में कहाँ और कितना स्थान पायेंगी, यह नहीं कहा जा सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिसकी इन पर दृष्टि पड़ेगी या जिन कानों में ये स्वर पहुचेंगे उन कानों में ये रह-रह कर गूँजेंगे अवश्य, क्योंकि इनमें अनेक हृदयों को अपनी ही ध्वनियों और इन स्वरात्मक चित्रों में अपने ही जीवन के उच्छ्वास-पुलक दिखलाई पड़ेंगे। राष्ट्र भारती की स्वर-गंगा में ये कविताएं भी कल्लोलमयी लहरों सी गतिशील हों, यही शुभ कामना है।

रा० प्र० अग्रवाल
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी)
पी एच० डी०
अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, मेरठ विश्वविद्यालय

# भूमिका

श्री मोहनलाल श्रीवास्तव हिन्दी के एक कर्मठ सेवक हैं। वे भारतीय साहित्यकार संघ के प्राण हैं। उनके परिश्रम के फलस्वरूप संघ ने हिन्दी-भाषा, साहित्य तथा भारतीय इतिहास के उत्कर्ष के लिए अनेक सफल आयोजन किए हैं। मोहनलाल जी एक समर्पित हिन्दी-सेवक के अतिरिक्त कवि भी हैं। प्रस्तुत संग्रह उनके सहृदय कवि होने का प्रतीक है।

प्रस्तुत संग्रह में स्थूल-प्रचलित-शब्दावली के अनुसार अठारह गेय तथा दस छन्द-अत्यानुप्रासादि-बन्धन-मुक्त कविताएं हैं। तत्त्वतः मोहनलाल जी गेयता अथवा संगीत का सम्मान करने वाले कवि हैं, जो उनकी स्वतंत्र कविताओं से स्पष्ट है। इन कविताओं में स्थान-स्थान पर अन्त्यानुप्रास तथा लय आदि विद्यमान हैं। दूसरी ओर, वे गेय कविताओं में सर्वत्र किसी सीमा-बन्धन की विवशता स्वीकार नहीं करते। मेरे मत से कविता की स्वस्थ, सहज तथा अकृत्रिम दिशा यही होगी कि वह किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त हो। नया कवि छन्द, तुक, लय आदि के बन्धनों को तोड़ रहा है। किन्तु वह, जाने-अनजाने, नए पूर्वग्रहों का बन्दी भी बन रहा है। यह तो आकाश से गिर कर खजूर में अटकना हुआ। अन्त्यानुप्रास-विहीन काव्य, छन्द-मुक्त काव्य तथा समग्र-बन्धन-मुक्त काव्य आदि का ज्ञात या अर्द्धज्ञात या अज्ञात कारण कविता को स्वतंत्र तथा अकृत्रिम रूप प्रदान करना ही हो सकता है। कविता सर्वथा स्वतंत्र तथा अकृत्रिम तभी हो सकती है, जब वह सहजात अनुभूतियों को पूर्वग्रह-विहीन रूप में व्यक्त करे। अतएव, छन्द-तुक-आदि का बन्धन तोड़ना भी ठीक है, और जहाँ वे स्वाभाविक रूप से, अनायास ही, आ जाएं, वहाँ उनका सम्मान करना भी ठीक है। कविता को संगीत का लग्गू-भग्गू बनाना ठीक नहीं है, साथ ही, कविता को संगीत का विरोधी बनाना भी ठीक नहीं है। इस निकष पर

मोहनलाल जी की कविताएँ अच्छी उतरती हैं।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' से अधिक शाश्वत एवं समीचीन काव्य-परिभाषा नहीं प्राप्त हो सकती। रस को बुद्धि एवं हृदय के चश्मों से देखने की दर्शनहीन प्रणाली अस्थायी है। बुद्धि एवं हृदय मनस् की दो स्थितियाँ हैं, उसके दो भेद नहीं। तुलसीदास अपने भक्ति-तत्त्व-विश्लेषण में भी कवि हैं, सूर अपने साकार-मण्डन में भी कवि हैं, कबीर अपनी हठयोग-साधना में भी कवि हैं। भावी कविता, अतीत एवं वर्त्तमान की राशि-राशि कविता के सदृश तथा उससे भी अधिक, बुद्धि-हृदय के तत्त्वतः व्यर्थ विवाद से मुक्त होगी, यह स्पष्ट है। यद्यपि मोहनलाल जी अपनी कविताओं में बौद्धिक निष्पत्तियों की ओर आकृष्ट नहीं हुए, तथापि उन्होंने राष्ट्र-जीवन की दयनीयता एवं व्यक्तिगत संघर्षों का प्रभावी वर्णन किया है।

संग्रह की सर्वोत्तम कविताएं 'तट', 'जन्मतिथि और मैं', तथा 'चन्द्र-ग्रहण' हैं। 'तट' में मानवीय मर्यादाओं की चिरन्तनता को ललित अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। मर्यादाएं कलेवर बदलती हैं, उनकी आत्मा चिरन्तन है। यह तथ्य हृदयहारी शैली में स्पष्ट किया गया है। 'चन्द्र-ग्रहण' शब्द-चयन एवं कला की दृष्टि से एक अत्यन्त सुन्दर कविता है। 'चन्द्र-ग्रहण' अपने बाह्य में मनोहारी है तथा उसका प्रतीकार्थ भी गम्भीर है। 'जन्मतिथि और मैं' कविता अनुभूति की तीव्रता में अनुपम है। कवि के पिता का अवसान उसके पन्द्रह दिन पूरे करते ही हो गया था। यह कठोर तथ्य उसे सदैव आलोड़ित विलोड़ित किए रहा है। ऐसा स्वाभाविक ही है। यह समग्र आलोड़न-विलोड़न इस कविता में बरबस फूट पड़ा है। उद्गार ने गति-यति-शृंखला को टूक-टूक कर दिया है। उसका व्यवधान ही उसकी गति है।

मोहनलाल जी का जीवन अनवरत संघर्षों तथा ज्वालाओं का जीवन रहा है और उन्होंने संघर्षों-ज्वालाओं से शक्ति अर्जित की है, निराशा नहीं। यह उनकी 'चिन्ता है तो···', 'साथी से', 'युग-स्रष्टा से', 'अभी साधना रही अधूरी', और, सबसे बढ़ कर 'मेरे अपमानों ने मुझको अद्भुत साहस-

दान किया है' जैसी कविताओं में स्पष्ट है। प्ररक कविताएं प्रायः रस-दुर्बल होती हैं। इन कविताओं में भी रस कहीं-कहीं तथा कम-कम है। किन्तु उनकी शक्ति प्रभावी बन पड़ी है, इसमें सन्देह नहीं।

संघर्ष की अनवरत क्रिया एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न किए बिना नहीं रहती, या रह सकती। यह क्षोभ निराशा या पराजय या कुण्ठा ही हो, यह अनिवार्य नहीं। प्रस्तुत संग्रह में इस प्रवृत्ति-पक्ष की द्योतक कविताएं भी हैं, जिनमें 'सिन्धु-मंथन हो चुका पर सुधा का परिचय न पाया' उत्तम है।

तुलसीदास, जवाहरलाल, लाल बहादुर शास्त्री तथा भाई परमानन्द से सम्बन्धित कविताएं यद्यपि किसी नूतन भाव या विचार की अवतारणा नहीं करतीं, तथापि उनमें कृतज्ञ मन के उद्गार अकृत्रिम रूप से व्यक्त हुए हैं। शास्त्री जी से सम्बन्धित कविता में रस है, व्यथा है। 'भाई परमानन्द के प्रति' कविता में हिन्दुओं की कृतघ्नता पर क्षोभ व्यक्त किया गया है। तुलसीदास से सम्बद्ध कविता में श्रद्धा विद्यमान है। जवाहरलाल पर रची गई कविता अपने-आप में उलझ-सी गई है। लगता है, कवि जो कहना चाहता है, अवसर उस पर नियन्त्रण कर रहा है···और नियन्त्रण कविता का चिरन्तन वैरी है। अपनी श्रद्धांजलि सम्बन्धी कविताओं में मोहनलाल जी ने अन्ध-श्रद्धा या वीर-पूजा की अप्राजातान्त्रिक तथा असमानता मूलक प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं दिया, यह हर्ष का विषय है।

कवि का जीवन अपने-आप में इतना व्यस्त रहा है कि उसे प्रकृति पर अधिक ध्यान देने का सहज अवकाश कम मिल पाया है। इतने पर भी, 'चन्द्र-ग्रहण' तथा 'तट' जैसी कविताएं इस पक्ष को सूना नहीं रहने देतीं, भले ही कवि प्रकृति को आलम्बन-रूप में कम या नहीं अपना पाया हो।

प्रेम मानव-हृदय का सर्वोत्तम व्यापार है। प्रेम कला का प्राण है। प्रम कविता का पति है। मोहनलाल जी प्रेम की उपेक्षा कैसे कर सकते थे? किन्तु उनका प्रेम उन्हीं के समान स्पष्ट, ऋजु एवं सरल है। कुण्ठा की ज्वाला उनकी प्रेम-सम्बन्धी कविताओं में नहीं सी है। इससे जहाँ ऐसी कविताओं में अनुभूति की तीव्रता एवं अभिव्यक्ति की प्रखरता नहीं आ

पाई, वहाँ एक उद्वेग-रहित शालीनता अवश्य विद्यमान हो गई है।

इन कविताओं में से अनेक में ताज़गी है। इनके मूल में एक व्यक्तित्त्व है। कोई कविता उद्वेग-कारक नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं प्राचीनों, मध्यकालीनों एवं अनेक तथा कथित आधुनिकों के सदृश उद्वेगकारक को काव्य से निर्वासित करने के पक्ष में हूँ। उद्वेग जीवन का एक अंग है। उसे काव्य से कैसे निर्वासित किया जा सकता है, जब कि काव्य जीवन का ही एक उद्‌गार है? किन्तु, अनेक प्रकरणों में उद्वेग-रहित काव्य उपयोगी होता है, और इस दृष्टि से भो, प्रस्तुत संग्रह एक उपयोगी संग्रह है।

यदि यत्र-तत्र, वस्तुतः अतुकान्त कविताओं में, व्यवधान दृष्टिगोचर हो, तो इससे संग्रह के मूल्यांकन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि कविता का नूतन कलेवर प्रवाह की नूतन परिभाषा की प्रतीक्षा में है। प्राचीन-अर्वाचीन काव्य बन्धनों का युग अब, सौभाग्यवश, पीछे छूटता जा रहा है।

**रामप्रसाद मिश्र**
एम० ए०, पीएच० डी०
डी० ए० वी० कॉलिज, नई दिल्ली।
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

## समर्पण

हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्थान
जिसे साध्य जिसका अभिमान,
उसी श्रेष्ठ गुरुदत्त महान
को अर्पित स्वर-गंगा गान।

—मोहनलाल श्रीवास्तव



# मान का अभिषेक करना चाहता हूँ

मान का अभिषेक करना चाहता हूँ
सिन्धु खारे को बदलना चाहता हूँ
तृषित अधरों पर सरस मुस्कान लहरे
इसलिए कुछ गीत रचना चाहता हूँ—

गीत गाए थे किसी ने, मौन सागर
नहीं लहरा, लहर बनना चाहता हूँ;
मनुज हित जो अमर रस को खींच लाए
वह अपरिमित गीत रचना चाहता हूँ।

## मौन क्यों हो ?

मौन तुम हो प्राण मुझको स्वर कहाँ से मिल सकेंगे।
अब न आँगन में तुम्हारे चाँदनी मुसका रही है
और मादक गंधवाली वायु भी कतरा रही है
कुछ नया उपहास करने आज पतझड़ आ रहा है
शीत पीड़ित गात पर ज्यों शीत घन घहरा रहा है।
कल्पनाएँ डर रही हैं भावनाएँ मर रही हैं
साधनाएँ हाथ जोड़े निठुर विधि से कह रही हैं
यह न होवे मौन होकर साध सो जाए सदा को
बहुत पहले ही मिलन के रूप खो जाए सदा को।
सरस वीणा स्वामिनी भी करुण रस भरने लगी है
तब हमारे विकल स्वर को, वर कहाँ से मिल सकेंगे।
स्वर कहाँ से मिल सकेंगे ?
मौन तुम हो प्राण मुझको
स्वर कहाँ से मिल सकेंगे ?

## कब तक ?

तन पर निठुर नियति का पहरा—मन का घाव बहुत रे गहरा
ऐ मेरी व्याकुलता बोलो—कब तक जहर पिए जाऊँ मैं ?

यह कैसा आलोक जगा है
झुलसी उपवन की छवि सारी
जीवन रस की बूंद बूंद को
तरस मरी सारी फुलवारी

गीत उदासी घर घर गाए—मरे सुहासी बिन पानी के
नेह रहित सूखे जीवन को—कब तक लहर दिए जाऊँ मैं ?

रोने का अधिकार न मुझको
हँसने का आधार नहीं है
मेरी पीड़ा को दुलराए
ऐसा यह संसार नहीं है

पागल मन अवलम्ब न पाए—सूखे पात सरिस भरमाए
ऐसे जग में भाव चरण को—कब तक डगर दिए जाऊँ मैं ?

कैसे उड़ जाऊँ मैं ऊपर
पंख नहीं हैं पाँव रुंधे हैं
अन्तर की अनुभूति स्वरों में
उतर न पाती गीत बंधे हैं

स्वर गंगा के अंतराल में—मचले दाह न उठने पाए
विवश साधना बता तुझे फिर—कैसे अजर किए जाऊँ मैं ?



## कितनी दूर कहाँ मैं जाऊँ ?

कितनी दूर कहाँ मैं जाऊँ, कुछ हल्का सा मन हो जाए !

वायु तरंगों सी चिन्ताएँ
घेरा डाले फिरती रहतीं,
जब भी आँख उठी तो देखा
काली बदली घिरती रहती;

मन का मीत अपरिचित, कैसे, दुर्दिन सुख सावन हो जाए
कितनी दूर कहाँ मैं जाऊँ, कुछ हल्का सा मन हो जाए !

बदले में पीड़ा दे देकर
सुख को छीन लिया है जग ने,
इतने शूल मिले हैं पथ में
आगे बढ़ना छोड़ा पग ने;

पीड़ा का संसार अपरिमित, यह कैसे मधु वन हो जाए
कितनी दूर कहाँ मैं जाऊँ, कुछ हल्का सा मन हो जाए ?

# नहीं-नहीं !

यह कभी क्या हो सका है
आँख दोनों अश्रु ढारें
और उनमें
भावना की
भिन्न हो अनुभूति ?

क्या कभी जग कह सका है
पाँव दोनों थक चले हों
और उनमें
कल्पना की
भिन्न हो अभिभूति ?

## प्रेरणा-गति

मुग्ध होकर प्राण तुमने
जब कभी भी गीत गाए,
हिम शिखरिणी कल्पना से
नेह-कण थे छल छलाए—

रूप शशि की चाँदनी से
धुल गया मेरा कलुष मन,
नेह के शीतल कणों से
बन गया यह अजर जीवन—

गीत में संकल्प का प्रिय—
वास मुझको मिल गया था,
रूप का मृदु भार पाकर
हृदय पंकज खिल गया था,

हो गया उन्मुक्त मैं फिर
गति बनी उन्मुक्तिनी सी,
विश्व में मोहक सुरभि सी
प्रेम की छाया घनी सी—



## मेरे मन सावन बन जाओ

मेरे मन सावन बन जाओ
प्यासे अंकुर सूखी आँखें
थकती जाती खग की पाँखें

जिन्हें निहारें वह बन जाओ
मेरे मन सावन बन जाओ—
मेरे मन सावन बन जाओ।

ताल तलैया पनघट सरिता
लेने जाती जिसको वनिता

उसकी सरस कामना बनकर
सहज सरल भावन बन जाओ—
मेरे मन सावन बन जाओ।

तुम जलमय हो दामिनि लय हो
दुख के साथी नव निर्भय हो

जितनी देर जहाँ भी जाओ
सबका कर पावन मन ज़ाओ—
मेरे मन सावन बन जाओ।

# तुम्हारा साथ चाहिए

एक पग भी तुम हमारे साथ चल दो
विश्व विजयी स्वयं को मैं समझ लूंगा;
एक स्वर भी तुम हमारे साथ गा दो
ध्वनि नियामक स्वयं को मैं समझ लूंगा।

गीत के आरोह फिर अवरोह में जो
दृष्टि उठती और गिरती है तुम्हारी
भाग्य का संकेत उसको मान कर ही
चल रहा हूँ नेह का पागल पुजारी।

चेतना ही आज बिलखायी हुई है
स्वरद पर ही हो गया आघात भारी
रश्मि को घेरे हुए है मेघ सेना
और बढ़ती आ रही है रात भारी।

गीत गा दो या कि दो वरदान मुझको
मैं तुम्हें तब तक सुनाता ही रहूँ जो
व्यथित मन की पीर को पीता रहा है
भाव शब्दों में तुम्हारा हो कहूँ जो।

## तन की राह रोक ले दुनियाँ—मन की कैसे रोक सकेगी ?

तन की राह रोक ले दुनियाँ
मन की कैसे रोक सकेगी ?

धरती रोज उसाँसें भरती
अम्बर आँसू ढुलकाता है,
दूरी की अपनी मजबूरी
मौन क्षितिज से बतलाता है।

पगली धरा घूमती रहती
गगन खो गया रे अपने में,
रजनी के तारों से पूछो
बातें होती हैं सपने में।

विधना ने इस चिर विछोह से
भौतिकता का मान किया है,
मर्माहत अन्तर के स्वर को
सृष्टि कला पर दान किया है।

सीमाओं की निठुर चौकसी
अब अनुभूति न रोक सकेगी—
तन की राह रोक ले दुनियाँ—मन की कैसे रोक सकेगी ?



## तारो कोई गीत सुनाओ !

सुनता हूँ विरही के मन को
हलका करने गीत निकलते
अन्तर के सन्तप्त स्वरों का
खारे जल में रूप बदलते
इन रूपों पर मिटने वाला, तारो कोई मीत बताओ
तारो कोई गीत सुनाओ।

मेरे अन्तस् की पीड़ाएँ
अब ज्वाला बनने वाली हैं
जग की भौतिक सीमाओं को
लपटों से ढकने वाली हैं
आग धधकने से पहले ही, मेघराज की रीत बताओ
तारो कोई गीत सुनाओ !

# अन्तर के प्रतिबिम्ब हमारे

अन्तर के प्रतिबिम्ब हमारे
नभ के जगमग तारे
चंदा के अभिनव साथी हैं
मदमाते उजियारे ।

जीवन के ये चंचल क्षण हैं
मन के राजा लहरी
इनके कारण ही आता है
शशि बन करके प्रहरी ।

शून्य गगन में झिलमिल हिलमिल
करते भाव हमारे
सो सोकर जगते जाते हैं
बनकर मृदुल सितारे ।

इनकी ही गति से मैं गतिमय
होता सांझ सकारे
सांध्य गगन में मन के मोती
मेरे गए उतारे ।

## सहित-रहित

प्रिय तुम्हारे रूप का
आभास हूँ मैं,
नेह पूरित श्वास का
आवास हूँ मैं।

एक हूँ बस एक का
विश्वास हूँ मैं,
दूर से अति दूर होकर
पास हूँ मैं।

रहित तुमसे प्राण बस
जंजाल सा मैं,
तप्त मरुथल में पड़ा
कंकाल सा मैं।

स्वयं विष से बिलबिलाता
व्याल सा मैं,
चिर उपेक्षित जग तिरस्कृत
लाल सा मैं।

## साथी से

पथ के साथ बंधी दूरी है
लक्ष्य-पंथ का गहरा नाता
मन का हो विश्वास मुखर तब
मानव लक्ष्य भेद कर पाता
मन में लगन कर्म में श्रद्धा भावों पर संयम करना है—

छलना का विस्तार बहुत है
ममता का आंचल धूमिल है
जिनसे हाथ मिलाने जाते
उन लोगों का मन पंकिल है
मानव बनता यन्त्र जा रहा उसका हृदय शुष्क झरना है—

वर्तमान भ्रू भंग कर रहा
आगत की अनियंत्रित रेखा
विगत लौट आने को आतुर
युग का कंपन किसने देखा
श्वास श्वास में परिवर्तन है हमको तीनों ऋण भरना है—

शब्द हमारे विस्तृत नभ में
गूंज रहे, गूंजते रहेंगे,
जिस क्षण में मिल बिछुड़े तुमसे
उसका वे इतिहास बनेंगे।
मूर्तहीन तज भाव प्रबल का अमर कलश मधुमय करना है !

खोज रहे हो सांचे ढाँचे
जिसमें तुम अपने को पाओ
मुझसे दूर कहां जाओगे
सीमा हूँ, मुझ तक तो आओ
तुमको सरस सुबोध बनाकर अपना रूप मुखर करना है।

तुमसे तो मैं रूप पा रहा
मुझसे तुम गति प्राण पा रहे
मेरी तरल प्रेरणा से ही
कौन नहीं जो त्राण पा रहे
गति हो अब गतिमय बन जाओ गतिविहान फिर फिर करना है—

## तब तक मीत नहीं आएगा !

मन की बात तभी निकलेगी
जब मन मौसम लहरायेगा,
जब तक कोई गांठ पड़ी है
तब तक मीत नहीं आयेगा—

आवाज़ों का रूप नहीं है
ऐसा कहना बेमानी है
चाहों के भी तट होते हैं
उन की गाथा पहचानी है—

अन्तर का अनुभूति स्वयं को
बाहर पाने आ जाती है,
पाते ही समरसता युग में
मन का गीत उठा जाती है—

गाओ कितने गीत भले ही
यदि स्वर बन्धन हीन न होगा
समता कहो विषमता चाहे
किसी तरह भव हीन न होगा ।

## मेरे अपमानों ने मुझको अद्भुत साहस दान किया है।

मेरे अपमानों ने मुझको अद्भुत साहस दान किया है।
जब से जन्म लिया धरती पर
अवसादों ने मुझको घेरा
और लगाया मेरे घर में
चिर विषाद् ने अपना डेरा
भाग्यहीन होकर भी मैं तो
निठुर भाग्य से लड़ता आया
पथ के शूलों पर मुसकाता
बाधाओं में बढ़ता आया

मर न सकूंगा विष देने पर पहले ही विषपान किया है—
मेरे अपमानों ने मुझको अद्भुत साहस दान किया है।



# तुलसी के प्रति

मानस सिन्धु हृदय में घुसकर
मानस-अमृत पाने वाले—

मैं हूं पामर, फिर भी मेरा
एक बार स्वीकार नमन हो।

कामिनि औ' कंचन के पीछे—परछाईं सा भगने वाला,
अपने ही रूपों पर मोहित—अपने ही को ठगने वाला,
पल भर चैन नहीं ले पाया—माया के अभिनय में फँसकर,
मुझे विषाक्त बनाया इसने—चुपके-चुपके डसकर हँसकर,

सुनकर आया गरिमा तेरी
मानस-भक्ति लुटाने वाले
मैं हूँ पामर....................॥१॥

राजा रंक धर्म के ज्ञानी—व्यामोहित से पथ को भूले,
पाने को सब कुछ भगते हैं—सब कुछ पाकर सब कुछ भूले,
तुमने ऐसी क्या निधि पाई—जिसके कारण जग को भूले,
चौदह रतन जड़ित संसृति को—ठुकरा राम भक्ति में झूले,

मैं भी द्वार तुम्हारे आया
देखो राम लुभाने वाले
मैं हूँ पामर..................।।२।।

खींची भावी युग की रेखा—हँसते ही हँसते तुमने जो,
आज स्वयं साकार हो गये—भाव बताये थे तुमने जो,
सतयुग तो देखा है किसने—अब तो कलियुग देख रहा हूँ,
मनुसतरूपा स्वप्न हो गये—कलि सत रूपा देख रहा हूं,
लोक धर्म का नाश हो रहा
मानव धर्म बताने वाले
मैं हूँ पामर..................।।३।।

आओ फिर से एक बार तुम—जन मानस के प्रतिनिधि बनकर,
गाओ फिर से ज्योतित होकर—युग मानस के वरनिधि बनकर,
कह दो फिर से "सपनेहुँ सांचेहुँ—गौरि पसाउ अगर हैं मोपर,
तौ फुर होइ भनित वर्णित सब—भाषा काव्य सुभाव अगोचर",
संत काव्य साहित्य सिन्धु में
राम गान को गाने वाले
मैं हूँ पामर..................।।४।।

# युग स्त्रष्टा से

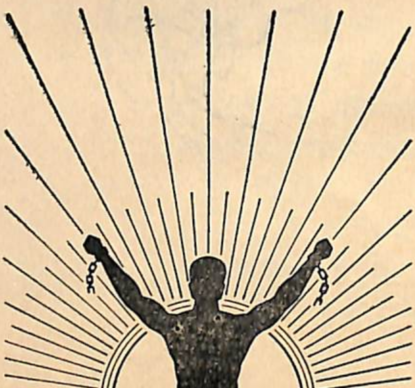
हे युग स्त्रष्टा, है युग गायक !
बीत चली कितनी शताब्दियाँ
वैभव की कल्पना अधूरी—
तेरे दर्दीले गीतों की
स्वप्न साधना हुई न पूरी—
देखो मृदु कल्पना रूपसी
सिसक सिसक कर अब जीती है
गर्दीले आकाश के तट पर
मन मारे आँसू पीती है—
वीणा की झन्कार मन्द है
हँस न अपनी गति चलता है
भावों का मधुमास लुट गया
शब्द न रागों में ढलता है—
रुठे क्यों अब गीत तुम्हारे ?
जग के दुःख न पीने आते
अम्बर को छूने से पहले
हाय धरा पर ही मुरझाते—
बोलो वाणी के वर दायक
हे युग स्त्रष्टा, हे युग गायक ! (१)

बदल दिये आकाश तुम्हीं ने
और मोड़ दी ग्रह चालों को
दर्द मसीहा बन कर तुमने
दवा बताई जगवालों को—
चिंता को पी पी कर तुमने
मानस का मन्थन कर डाला
हृदय फफोले फो॰ फोड़ कर
घाव परायों का धो डाला—
प्रकृति नटी के चल चित्रों की
छाया तुमने अमर बनादी
काव्यदेव को उसे सौंपकर
पहले से भी सुघर बनादी।
गीतों के तपसी दधीचि तुम
मानव पीर मिटाओगे कब ?
जिससे दानवता मिट जाए
ऐसा गीत सुनाओगे कब ?
बोलो वाणी के वरदायक
हे युग स्रष्टा, हे युग गायक ! (२)

शंकर ने तो एक बार ही
काल कूट का पान किया था
एक बार ही भस्मासुर को
मन चाहा वरदान दिया था—
तुम तो अपने जन्म काल से
विष ही तो पीते आये हो
अगणित असुरों को वर देकर
सबका दुख हरते आये हो—

हर सुत का मुख सुन्दर चन्दा
माँ की उत्सुक आँखें तारे
इन पर अब तो गहन लगा है
छोड़ो नभ के चाँद सितारे—
साम्राज्यों के केतु दलों से
धरती के ये चाँद बचाओ
पहुँच सको तो पहले पहुँचो
अम्बर का भी चाँद छुपाओ—
चतुरानन के सृष्टि विधायक
हे युग स्रष्टा, हे युग गायक ! (३)





# अभी साधना रही अधूरी

जब तक युग का रूप न बदले,
सपनों को जग सच न समझ ले,
अभियानी पग के इंगित पर,
तरुणाई का ज्वार न मचले
तब तक कवि कहता जायेगा,
अभी साधना रही अधूरी ॥ १ ॥

जीवन में गतिमान लहर सी,
दिव्य चेतना लहराती हो।
मानवता को विश्व संजोये,
सरस भावना भर लाती हो।
इसी सुधा की मधुर धार से.
करले मानव प्यास न पूरी।
तब तक कवि………… ॥ २ ॥
जब तक धरती की छाती पर,
शोषण के हैं धब्बे काले।
न्याय माँगने जो उठता है,
उसके मुँह पर लगते ताले।
जब तक राम नहीं आता है,
लीला की हो साज न पूरी।
तब तक कवि…………… ॥ ३ ॥

माता का आँचल खाली है,
बहनों का सिंदूर छूट गया।
अपने कहलाने वालों से,
अपना हिन्दुस्थान लुट गया।
जब तक घर घर नहीं बसेगा,
आँचल में हो हँसी न पूरी।
तब तक कवि............ ॥ ४ ॥

कवियों की अब बिकी लेखनी,
पैसे वालों के पैरों पर।
गिरती मचलाती जाती है,
भीख माँगने देखो दर दर।
जब तक कवि की स्वाभिमान से,
नहीं तनेगी छाती पूरी।
तब तक कवि............ ॥ ५ ॥

चलना केवल ध्येय मार्ग पर,
रुकना केवल लक्ष्य प्राप्ति पर।
हंसना केवल कष्ट मिले जब,
या थोथी मृत प्राय उक्ति पर।
जब तक पूछ रहा हो साधक,
चलना है अब कितनी दूरी।
तब तक कवि कहता जायेगा,
अभी साधना रही अधूरी ॥ ६ ॥

## अपना दीपक बारे

रात रात भर बैठा रहता, अपना दीपक बारे,
अपना दीपक बारे।

साँझ गगन में जब घिर आई
लगे चमकने तारे,
सूना सूना सदन देखकर
नैना जल छलकारे।
लेस दीप फिर लगा भगाने
भाग भाग अंधियारे,
बढ़ती आयी और अमा तब
बैठ गया मनमारे
अपना दीपक बारे—१

बाती मेरी टिमटिम करती
मैं नीचे मुंह डारे,
सांसों की गति गिनता रहता
बैठा भीत सहारे।
नभ में चन्द्र चमकने आया
झूम झूम चमकारे,
पर मुझको तो भाती केवल
झिलमिल ही बतियारे।
अपना दीपक बारे—२

इसका लौ में प्रीत भरी है
और भरी अगियारे,
छीन लिया इसने मेरी तो
रजनी की निंदियारे।
झलक झलक प्रिय रूप दिखाता
लहर लहर कसकारे,
भोर हुआ बस बुझ जाऊँगा
ठहर ठहर कहता रे।

अपना दीपक बारे—३



# यज्ञ रोक मत जन्मेजय

सम्मोहक सुर गीतों में
छलनामयी प्रतीतों में,
मेरे जन्मेजय मत भूलो
असमय के सम्प्रीतों में।

पहली आहुति की ज्वाला
सुरभित सुमनों की माला,
देख इन्द्र सिंहासन में
लिपटा तक्षक विषवाला।

युग के उपरोहित तेरे
दान दक्षिणा के चेरे,
उनको वातज से रहती
हीन लालसा ही घेरे।

अभी अभी तो बांबी से
विषधारियों की लांबी से,
उड़कर आये नाग रे
झुलसे लपट गुलाबी से।

यज्ञ रोक मत जन्मेजय—तेरा तक्षक अभी अभय।



# चन्द्रग्रहण

पीला पीला चाँद
चाँदनी सहमी सी,
धूमिल था आकाश
रात्रि बस भरमी सी—

नीरवता की तान
चाँदनी बस्ती सोई,
आँखों की पहचान
स्वप्न बन नभ में खोई—

मुखर ज्योत्स्ना उतर
धरा पर चुपके से,
आ पलकों के पास
कह गई हलके से—

जागो मेरा चाँद
घिर गया पापों से,
मलिन हो रहा अंक
दनुज के तापों से—

देदो रानी भीख
सुकृत के तप बल का
कर दो सजनी दूर,
दुःख शशि निश्च्छल का—

ग्रस जाएगा इन्दु
सिन्धु कैसे डोलेगा,
प्रियतम का प्रतिबिम्ब
कहो कैसे बोलेगा—

सरिता का उद्वेग
लहर का कल गायन,
कूलों का उन्माद
मौन है वातायन—

तारों का संगीत
रुदन में बदल रहा,
विधु का सुन्दर बदन
दुष्ट अब निगल रहा—

रजनी का सौभाग्य
रूप का आलम्बन
नखतों का मधुमास
व्योम का मुखरित मन—

कलियों का रसहास
कला का सम्मोहन,
ब्रज लीला शृंगार
प्रेम का उद्दीपन—

मन में संचित हुआ
प्रकृति का यौवन धन
जिसका नयन विलास
सजाता जगकानन—

आली, गलता वही
दैत्य उच्छ्वासों से,
गिनता जीवन पहर
निढलती साँसों से—

उझक पुतलियाँ लगीं
झाँकने हिमकर को,
विष से होता कलुष
अनूप सुधाधर को—

लगी सोचने सोच
सुधांशु गरल पीता,
या अमृत का कुण्ड
हो गया अब रीता—

क्या विधु का गत पाप
अमर संताप हुआ,
किम्वा पश्चाताप
स्वयं अभिशाप हुआ—

या निर्मल प्रियरूप
चुराने छल आया,
सीमा के अनुरूप
किसी की ले छाया ?

# एक प्रश्न

आज मनु की दिव्यवाणी
साधना आराधना पर
और उसकी सात्विकी प्रिय
भूमिका की भावना पर;

जब किसी खल पातकी की
दृष्टि टेढ़ी पड़ गई हो
तब बताओ गीत को वरदान क्या दूं—
और अपने प्राण को अभिमान क्या दूं ?

बहुत सीमाएँ बनाए
असत् दर्शन बोलता हो,
मनुज के उपयोग को ही
निज तुला पर तोलता हो;

भँवर की ही पारवाहक
ज्ञान संज्ञा पड़ गई हो
तब बताओ ज्ञान को सम्मान क्या दूं—
और अपने प्राण को अभिमान क्या दूं ?

सूर्य पश्चिम का चमकता
पूर्व का छिपने लगा है,
दिन कहाँ तक थक चला है
रात को दिखने लगा है,

कल प्रवाहित धार ही जब
त्रिपथगा से बढ़ गई हो
तब बताओ सुजल को कल्याण क्या दूँ—
और अपने प्राण को अभिमान क्या दूँ ?

तम उलूकों को उड़ाता
घेरने रविचन्द्र आया,
दुष्ट ग्रह के ही बिना अब
दीखती है ग्रहण छाया;

काल की निर्दिष्ट माया
बोल सर पर चढ़ गई हो
तब बताओ मुक्ति का उत्थान क्या दूँ—
और अपने प्राण को अभिमान क्या दूँ ?

# ओ विधायको !

नई मुक्ति के ओ विधायकों
शक्ति हमें कर वरण झूमती
हम विशेष्य हैं परम मुक्त के
मुक्ति हमारे चरण चूमती ।

त्रिकालज्ञ ऋषियों के वंशज
हमको सदा ज्ञान है गतिका,
सद्गति-दुर्गति के विधान का
श्रेय-प्रेय की शुभ सम्मति का ।

हम भारत हैं आत्मरूप हैं
नर-नारायण के स्वरूप हैं,
विगत और भावी युग में बस
शेष अमर हैं, चिर अनूप हैं ।

तुम असाध्य हो हम मृत्युञ्जय
कैसे हमको जीत सकोगे,
अपनी सीमाओं को देखो
कैसे शिव से प्रीत करोगे ।

विषधर और सुधाधर दोनों
शिव के अंकुश में रहते हैं,
मृत्यु-जन्म के नित विधान की
अमर कथाएँ ये लिखते हैं ।

नीलकंठ की परम्परा फिर
महारुद्र का प्रलय राग भी,
हमें ज्ञान है दोनों का ही
हम दोनों हैं आग-राग भी ।

विश्व विजेताओं की तृष्णा
परिधि हमारी लाँघ न पाई,
यहीं सुलाया मृत्यु शान्ति दे
चाहे जहाँ जिधर से आई ।

## कई बार ऐसा होता है।

कई बार ऐसा होता है
विषमय विषम सुसम लगता है,
बुझते हुए दीप की लौ से
घना अन्धेरा कम लगता है
कहीं अपरिचित रूप राशि में—
कुछ कुछ अपना पन लगता है
मन लगता है
तन बंधता है—१

होठ सिले हों पर बातों की
गति पर बंधन कम लगता है,
मुक्त चन्द्रिका छोड़ अकेला
मन मावस तम से लगता है;
कहीं अपरिचित घात स्वरों में
कुछ कुछ अपना पन लगता है
मन लगता है
तन बंधता है—२

## दीप शिखा !

दीप शिखा !
लहरो तुम इतना,
अंधकार हो
नभ में जितना,
जितने प्राण
व्योम में तारे,
जलन लिए
बुझ गए बिचारे,
उनकी व्यथा
हृदय में धारे,
उठो, उतारो
**भोर दुआरे**

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का
स्वर जागे नव राग अभय का।

## याचना

छन्द दे दो जो तुम्हें
अनुरूप भाए,
शब्द भेजो जो
तुम्हारे गीत गाए,
और उस आकाश की
तुम कल्पना दा
जो तुम्हारे आह को छाती लगाए
गीत गाए—१

दीखता सविशेष अब
कुछ भी नहीं है,
प्राण में संदेश सा
कुछ भी नहीं है,
एक मुट्ठी राख भी
अपनी नहीं है
जो तुम्हारे राह की सौगन्ध खाए
गीत गाए—२

## तट

सलिला की
वातुली वात्या
नीरव निशा में
किसी विदिशा में
आत्म-ग्लानि लिए
डूब जाना चाहती थी;
मेरे ही मुक्त
किन्तु छन्दयुक्त बाहु ने
उसको उठाया
छाती लगाया
थपकी दे रातभर
अंक में सुलाया,

सूर्योदय पूजन को
रत्न जटित थाली में
रूपदीप साजे
ऊषा नवोढ़ा आई जब,
वात्यावही
स्नेहिल समर्पिता-सी
लहराई, उमर आई
तटपर छाई, ऊपर उठ धाई
देने बधाई
जनमन सुहाई,

सलिला की रसवंती तरंगिणियाँ
अपने से बोधहीन
पवन के दबाव से
अपने से अर्थहीन
उर्मि के घुमाव से
इधर उधर भागती
धार से अधार हो
बहुत निराधार हो
मेरे ही मुक्त
किन्तु छन्दयुक्त बाहु ने
उनको सहारा दिया
उनको सुधारा किया
अशान्त से प्रशान्त किया
क्लान्त से शान्त किया,

सलिला ने जब कभी
सीमा को प्रवाह से
अपने अन्तर्दाह से
तोड़ा है,
मैंने जोड़ा है
अपने को बढ़ाकर,
मेरे ही अंक और बाहु में
लिपटी वह
मुझे नहीं छोड़ पायी है
मुझे नहीं तोड़ पायी है—

मेरे ही साथ-साथ
मेरे ही हाथ-हाथ
संगम में नहाई है।

जब कभी मैं गला हूँ
नीचे कुछ ढला हूँ,
नए रूप में आया हूँ
गीत उसी का गाया हूँ

जब तक मैं हूँ
तब तक वह है
जब तक वह है
तब तक मैं हूँ ।



# कहाँ, कैसे, हम आहत !

ललिता का सिन्दूर
देश का पावन अभिमत,
निर्धन का धनवान
हमारा भाग्य समागत !

वीरों का उल्लास
विजय का सुन्दर स्वागत,
साधारण के रूप
असाधारण नव निर्गत !

ाल बहादुर गए—कहाँ, कैसे, हम आहत !

## मेरे पद्य

मेरे पद्य
गद्य हो गए हैं
कुछ खो गए
कुछ सो गए हैं;
जो भी रहे
न कहे से कहे
बस बहे
आँसू की धारा में
शेष स्मृति, अशेष
दो-चार क्षण-भर
नई कहानी में
पुराने कथानक के
चुभते बोल ।

## नेहरू तुम !

नेहरू ! तुम
प्रज्ञातीत हो गए
सो गए यों
रे ध्रुव में खो गए
माना तुम्हें
कहा था आगत ने
जाना अरे
क्या सहा स्वागत ने ?

लेकिन स्वयं
दूर की रेखा से
उलझे हुए
कर्म की लेखा से
हठीले क्यों ?
ऐसे हटे जैसे
कि अतीत हो गए !
प्रज्ञातीत हो गए !

## सन् सत्तावन

चलो छन्द
उठो भाव
पूजा हम करने चलें,
उन पद चिह्नों की
जिनसे
आज भी, भारत की
आत्मा अलंकृत है
और जिनको
प्रज्ञा समर्पित है;
जिन्होंने न सत्ता की,
न धन की
चिन्ता की,
केवल गति चाप से
इतना लिख पाये थे
इस समय बढ़े चरण
इस समय चढ़े शीश
जितने भी और जहाँ
उन्हीं का नाम सत्तावन है।



## स्व० भाई परमानन्द की स्मृति में

उपेक्षा की परम्परा के हम सबों ने
केवल 'भाई' की ही नहीं
युग के अनेक,
कर्म वीरों, सत्पुरुषों की
उपेक्षा की,
और बाद में गाया है—
"ले नमस्ते हे उपेक्षित"
उनके चित्र लगाए हैं
जिससे चित्र हमारा लगे
उनके गीत गाए हैं
जिससे काम जरा सधे—

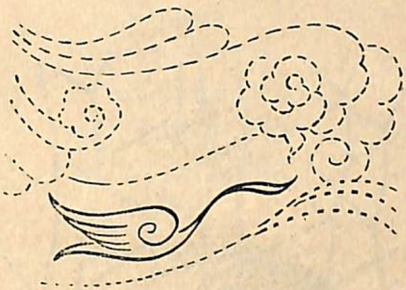
आज भी स्व० भाई
आनन्द के साथी परमानन्द !
तुम्हारी साधना को
तुम्हारे ही वंशज,
बस उनके सगे-साथी ही
बोध कर पाए हैं

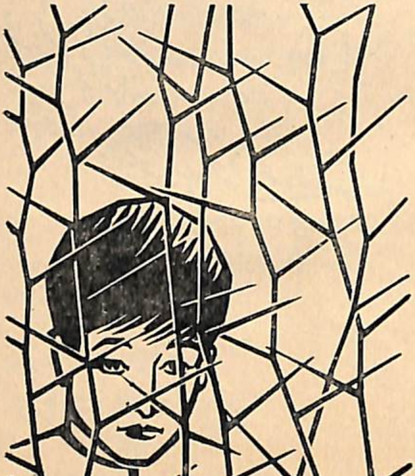
शोधकर लाए हैं
एक दिवस ऐसा
जिस दिन हत प्रभ-स्वार्थी हिन्दू
याद रक्खें, "तुम एक थे"
अनेक के प्रहरी थे
तुम्हारे रक्त में
आरे की धार से चिरी
हिन्दुत्व की रक्त लाली थी,
तुम्हारे नेत्र में
परतंत्र माँ की
भावी आशा उजाली थी—

तुम्हारे त्याग में वैरागी
तुम्हारे योग में त्यागी
और दोनों की ही
महत कामना उभर आई थी;
भारत के नवांकुरों में
चुपके से लहराई थी—
तुम्हारा उपयोग किया गया था,
सदुपयोग की चिन्ता छोड़कर;
तोड़कर सत्य की मर्यादा—

पश्चिम के अंधे अंधेरे पर,
पूर्व का प्रकाश ले जाने वाले
जब तक उपयोगितावाद का
आश्रय नहीं छोड़ेंगे

तोड़ेंगे नहीं कुटिल नीति
जोड़ेंगे नहीं सरल मीत
जब तक एक नहीं अनेक भाई परमानन्द
हम से जुदा होते ही रहेंगे।





# वातावरण से

मेरे वातावरण
मेरा गला इतना मत घोंटो
पद पद पर इतना मत टोंको
कि मैं घूमकर
लौट चलूं
और फिर लौटकर
घूम चलूं ;

मेरा मन
बहुत दबा दबा है,
उसका सुबकना
तुम्हारे निर्दय घेरे में
परिवर्तिनी भट्टी की
धौंकनी कही जाए चाहे;
पर बात यही सही है
कि मेरा "मैं"
नहीं बदलना चाहता है—
तुम कसकर अपने लिए
मुझे निचोड़ना चाहते हो;
बिना उपयोग किए
नहीं छोड़ना चाहते हो;

तुमने कभी कभी
मुझे घूरकर उसी तरह देखा है

जैसे यतीम खाने के बच्चों को
उसका व्यवस्थापक,
उसका संस्थापक देखता है,
क्योंकि उसके अनुकूल
न होने पर
यतीमखाना खुदबखुद
यतीम हो जाएगा,
खो जाएगा
यथार्थ सामने आते ही—

मैं अकेले में ऐसा ही हूँ
जैसे अनजान चौरस्ते पर
घर से भागा शिशु,
क्योंकि तुम्हारी कड़क
अपकारकों की कारक जैसी
तड़क भड़क
मुझे झकझोरती है,
बहुत दबोचती है,
मैं भय से तुम्हारी हाँ में हाँ मिला देता हूँ
तुम समझते हो कि मैं
तुम्हारा उद्घाटन हूँ।

## रूपान्तरकार से

अपने में अपने जैसा
निहित-सहित
जैसा अभिव्यक्त है
जैसा परित्यक्त है
उसे नया रूप
युगानुरूप
देने वाले रूपान्तरकार !

रूपान्तर बाह्य है—
कभीग्राह्य तो
कभी अग्राह्य है,
भूलमत तू !
माध्यम है,
साध्य नहीं, साधन है;
शब्दों की माला को
भाव गंगाजल में
धीमे से भिगो
सहज में संजो—

जितना रह जाएगा
उतना बन जाएगा
जितना छन जाएगा
उतना बह जाएगा ।

तब फिर
जो कुछ तू गायगा
जितना कह पाएगा
उतना ही बोध है—
सच्चा परिबोध है,
अन्तर्शोध है
वही युगीन बोध है।



## 'जन्म-तिथि और मैं'

पन्द्रह प्रभात की
और सान्ध्य बेलाओं से
परिचय कर ही पाया था
कि आकाश घूम गया
आधार छूट गया,
जिस वृक्ष की छाया-माया
जिसकी दिशाएँ-भुजाएँ
मुझे ममता के
सजोले वस्त्रों में सजाए
भागते हुए समय के आक्रोश को
सहते हुए भी
खिलाती रहीं
छूट गईं,
टूट गईं
मैं केवल रह गया
मैं केवल रह गया
मेरे पास कुछ न रहा
मुझसे कुछ तो न कहा—
पास गर्म श्वासों की स्मृति
काँपते आसुओं की कृति
दूध की पीड़ा से विकृत
एक कृशकाय
ढली सी प्रतिमा

झुकी आँखों से
धरती की कठोर छाती को कुरेदती
आकाश की कड़क से सहमी
खड़ी थी;
मैं उसके ही कर्म का अप्रिय बोझ
वहीं पर पड़ा रहा
और प्रिय उठ गया।
कई आँखों ने मुझे दया
फिर तिरस्कार की पैमाइश से
नापा, आँका
शुभाशुभ जाँचा—

गगन ने अपवित्र माना
धरा ने अति व्यर्थ जाना
आँधियों ने क्रूर हास्य विनोद
भर को
मेरे रुदन को
खूब उड़ाया
तपते दिन के निस्तेज दीपक की तरह
मेरे नयनों की
आत्मग्लानि विषाद वाली
याद करके
जानकर भूल भुलाई ऐ कहानी!
आज क्यों फिर याद आई?

दूर कितना चला आया
बोझ कितना उठा लाया
गीत जो मुझको मिले थे

पूर्व और अपूर्व के सब
किस तरह गाया-अगाया
कौन क्षण अपने रहे थे
किसे मैं भाया-अभाया
क्या यही मुझको बताने—
हंसिनी के पख पर, चढ़
वेदना का मर्म स्वर भर
नेत्र को संकेत करके
भागती जाती नलय के पार !
जीत हो या हार
आभार या मृदुभार
कौन सी संज्ञा तुम्हें दूं
ऐ अपरिचित सी सुपरिचित !
किस किए यह चित्र खींचा ?
अस्त का यह मध्य है क्या,
उदय की आकांक्षा का
कर रही अथवा विवेचन
ऐ मेरी
याद करके जानकर
भूली भुलाई वह कहानी
आज क्यों फिर याद आई ?



## चिन्ता है तो...

झंझा के घन जूझ रहे हैं
आसमान का कफ़न ओढ़कर,
नीचे आने को आतुर है
किरण जुही की माल तोड़कर।

विस्मय फिर दुविधा दोनों ही
बढ़ते आते चारों दिशि से,
लगातार ज्वाला गिरती है
जीवन देने वाले शशि से।

सदियों का कोलाहल क्रन्दन
कालकूट बन टेर रहा है,
पंचतत्व को एक बनाने
हेतु-सृष्टि को घेर रहा है।

शिव समाधि से जाग उठा है
देख विकल है जग का मन्थन,
आज स्वयं दुहराएगा वह
लोक क्षेमकृति सत्य चिरंतन।

सोच रहा है शंकर अब फिर
गरल ज्वाल का वृत्त उठेगा,
या तो इस विष को पीएगा
या फिर तांडव नृत्य करेगा।

कभी कभी तो महा नाश में
चिर निर्माण जन्म लेता है,
और जन्म के लिए स्वयं ही
तम बन सूनापन देता है ।

हाथ उठा तो नभ टूटेगा
पैर उठा धरती पलटेगी,
स्वर निकला तो प्राण मरेंगे
नेत्र खुला जगती झुलसेगी ।

चिन्ता है तो केवल इनकी
भागीरथि की पार्वती की,
उनके मिटते ही मिटती है
पावन संस्कृति मनुजयती की ।

## छाया से

छाया मुझसे साथ तुम्हारा
केवल उजियारा जाने तक—

साथ हमारे चलती हो क्यों
पास हमारे रहती हो क्यों,
मौन पुजारिन सी प्रतिमा की
भाव हमारे छलती हो क्यों ?

किसकी मान मनौती करने
सहज गामिनी तू जाती है,
अरी उपेक्षित बोल बोल तू
मुझसे इतना शरमाती है !

ऐसा लगता मेरा तेरा
साथ युगों से चलता आया,
मृदु भावों के अल्हड़ पन में
प्रेम युगों से पलता आया।

पर इसका विश्वास प्रिये तो
केवल अँधियारा आने तक !

## ऊषा

बोलो बाले ! तुम कहाँ, कौन ?
आ रही धरा पर चम्पन में
रंजितकर अरुणिम मृदुल गात
चुपचाप छिपाए निज छवि में
अन्तर कलिका के खिले पात
पाकर चहुँधा निश्चेष्ट मौन
बोलो बाले ! तुम कहाँ, कौन ?

मुकुलित दृग अंचल से झाँकीं
आकम्पित भावाकुल लहरी,
झंकरित हृदय के बीन तार
सोते अब नैशगगन प्रहरी,
आती अवनी पर समझ भौन
बोलो बाले ! तुम कहाँ, कौन ?

तिर्यक ग्रीवा चंचलित चीर
वारिजी माल रचती सुवेश,
अलसाई अँगड़ाई लेती
होता यौवन का नव प्रवेश;
यह किधर तुम्हारा सुघर गौन
बोलो बाले ! तुम कहाँ, कौन ?

# मेरे आँसू !

बहजा रे मेरे आँसू सूखी बगिया तक
प्यासी कलियों का आशा शायद नहीं मिले—

देखा है तुमने फूल झर पड़े डालों से
मकरन्द भरा अनुराग मिट गया गालों से,
ऊषा ने चाहा देना जब श्रृंगार उन्हें
उड़ गया रंग ऊषा के रश्मि गुलालों से,
सब ओर मातमी तम की काली छाया है
रुक गया सृजन का हाथ उभरते छालों से,
अब नहीं धरा पर प्राण पनपने पाएंगे
है संधि मरण का मातम करने वालों से,
मरते प्राणों के पास पहुंच तो जाना ही
फिर से प्राणों की भाषा शायद नहीं मिले ।

बहजा रे मेरे आँसू सूखी बगिया तक
प्यासी कलियों की आशा शायद नहीं मिले—

## नभ का प्यार

नभ तो दूर बहुत है ऊपर,
पर धरती का प्यार न भूला ।

दुनियाँ चाहे कुछ भी कहले
अब भी नभ की आँखें रोतीं,
धरती की उच्छ्वासों पर ही,
घिर घिर कर बरसातें होतीं
विरही अन्तर की तड़पन तो
बिजली सी दमका करती है,
बादल उसको बहुत छिपाता
फिर भी वह चमका करती है;

आहों के घन उमड़ घुमड़कर
पागल जैसे भरमाते हैं—
नभ के निर्मल, नील गात पर
प्रिय कलंक से भर जाते हैं—

पर आँगन में दीप जला कर रूपसिका मनुहार न भूला
नभ तो दूर बहुत है ऊपर पर धरती का प्यार न भूला ।

# सिन्धु मन्थन

सिन्धु-मन्थन हो चुका पर सुधा का परिचय न पाया।

सभी ने मुझको बताया
सृष्टि तो संगीत घर है,
क्षितिज से लेकर धरा तक
व्याप्त सब में एक स्वर है।

उस मृदुल स्वर साधना में
लगे अगणित प्राण युग से,
गूँजता है वह निरन्तर
पर न सुन पाया अलग से।

अश्रु तो हर आंख में है हास को स्वर मय न पाया,
सिन्धु-मन्थन हो चुका पर सुधा का परिचय न पाया।

## री स्वतन्त्रते !

अगणित प्राण जले पर तेरी
ज्योति बुझी की बुझी रह गई।
तेरे कातर सत्पुत्रों की,
आँख झुकी की झुकी रह गई।

क्यों तू विमते ?
री स्वतन्त्रते !

पीड़ाओं ने तुझे सजाया
पर तू सुख के साथ बस गई,
ऐसी उलझी अर्थ व्यर्थ में
सुलझाने पर और फंस गई।

देश अभिमते !
री स्वतन्त्रते !

नहीं हमारे लिए रह गई
कहीं पराए गांव हर गई,
अपनों का ही घर खाली कर
पर जन का तो कोष भर गई

काल भ्रममते !
री स्वतन्त्रते !

